IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

बदलते सामाजिक परिदृश्य में श्रीमद्भगवत गीता के शैक्षिक निहितार्थ (नैतिक शिक्षा के विशेष संदर्भ में)

डॉ० हरेन्द्र कुमार शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, महाराजा सूरजमल टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भरतपुर (राज०)

वैदिक शिक्षा[1] एवं संस्कृति की दृष्टि से प्रासंगिकता –

जब किसी देश या जाति की संस्कृति का विचार किया जाता है, तब प्रायः उसकी सामाजिक व्यवस्था, रीति–रिवाज, कला–कौशल, व्यापार–वाणिज्य, साहित्य–विज्ञान आदि की प्रगति देखी जाती है। परंतु प्रकृति का ऐसा नियम नहीं है कि इन क्षेत्रों में उन्नति कर लेने पर भी कोई जाति नष्ट होने से बच जाए। बहुत सी प्राचीन जातियाँ उन्नति कर लेने पर भी विलीन हो गयीं और उनकी कृतियों के भग्नांश पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज की सामग्री रह गयी है। सर हेन्री सम्नर मेन के मतानुसार थोड़ी सी पाश्चात्य जातियाँ ही प्रगतिशील हैं और शेष सब रूढ़ियों से बँधी होने से गतिहीन हैं या नष्ट हो चुकी हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का अधिकाधिक वर्ग या वर्ण से स्वतन्त्र होना उन्नति का प्रमाण है और दूसरा प्रबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण है विज्ञान की शोध, और उसके द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर ज्ञान वर्धन के साथ प्रकृति की शक्ति को अपने व्यवहार और उपयोग में लाना। संस्कृति का आर्य आदर्श इससे भिन्न है, परन्तु सांसारिक उन्नति से उसका विरोध नहीं है। हमारी संस्कृति के जन्मदाता अरण्यवासी ऋषि–मुनि हैं। ज्ञानदीप को प्रज्वलित करने वाले भगवान् वेदव्यास हैं। और पाश्चात्य सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ है। एक पर वन, प्रकृति और अनन्त की खोज की छाप पड़ी है, तो दूसरे पर राजस्व एवं भौतिक सुख की खोज का प्रभाव है।

अनेक प्राचीन जातियाँ काल के गाल में समा गयीं। उनकी आश्चर्यजनक उन्नति भी रक्षा न कर सकी और आर्य जाति सबसे प्राचीन होते हुए भी जीवित है और उसने अपनी कृतियों और विचारधारा से संसार को विशेष रूप से समृद्ध बनाया है। इस बात का इतिहास साक्षी है। अन्य जातियों ने संस्कृति के अंगों की तो भली प्रकार पुष्टि की, परन्तु उनको अनुप्राणित करने वाली संजीवनी शक्ति की अवहेलना की। परिणाम अनिवार्य था। आर्य जाति ने अधिक महत्त्व प्राण को दिया और वह है सनातन धर्म। यही कारण है कि उसकी परम्परा बनी हुई है और वह आज भी जीवित है। गतिमान्य के कारण प्रत्यक्ष हैं, परन्तु उत्थान के लक्षण भी दिखायी देते हैं। अपने को बलवती बनाने की सामर्थ्य और अवरोध को हटाने की शक्ति उसी में निहित है।

सनातन धर्म हमारा रक्षक है, पोषक है और भविष्य के लिये हमें इसी का एकमात्र आश्रय है, परन्तु खेद तो यह है कि समाज के गण्यमान व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो धर्मानुसार सुधार न कर सनातन धर्म को ही

अपनी सुविधा और स्वेच्छानुसार से परिवर्तन करना चाहते हैं। भारत वर्ष का विधान बनाया जा रहा है। वह कैसा ? धर्मनिरपेक्ष, जिसमें ईश्वर के नाम तक का बहिष्कार किया गया है। हमारे बहुसंख्यक विधायकों की दृष्टि में धर्म ही अवनति का कारण है !

ऋषि–मुनि, आचार्य – यहाँ तक कि किसी अवतार ने भी यह दावा नहीं किया कि वह सनातन धर्म का जन्मदाता है। समस्त शास्त्रों का एक ही लक्ष्य रहा है और वह है धर्म का व्याख्यान और उसके द्वारा मनुष्य की कल्याणकामना श्रीमद्भगवत गीता सर्वशास्त्रमयी है। उसी के आधार पर हमारी धर्म प्राण संस्कृति तथा आर्य जाति के कुछ आदर्शों को समझने की चेष्टा की जाती है। भली प्रकार विचार करने से जान पड़ेगा कि हमारी संस्कृति के सभी मौलिक सिद्धान्त स्पष्टतः अथवा सूत्ररूप से गीता में मिलते हैं। यहाँ तो इने–गिने पर विचार करना है।

'धर्म' शब्द से गीता का श्रीगणेश होता है और एक प्रकार से कहा जा सकता है कि जिन बातों को उपदेश रूप से कहा गया है, वे सब धर्म के ही अन्तर्गत हैं, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं – **इमं धर्म्यं संवादभावयोः।** और अर्जुन भी **धर्मसंमूढचेताः** होकर उपदेश का प्रार्थी हुआ था। इस प्रकार अर्जुन को जो शिक्षा दी गयी, वह हमारे आदर्श और संस्कृति की मूलभूत शिक्षा कही जा सकती है। जब अर्जुन युद्धविमुख हुआ, तब श्रीभगवान् ने उसके समस्त तर्कों का खण्डन तीन शब्दों में कर दिया – **अनार्यजुष्टमस्वर्म्यं मकीर्तिकरम्।** उपदेश में विधि और निषेध दोनों आवश्यक होते हैं। यहाँ निषेध स्पष्ट है। **अनार्यजुष्टम्** – अर्थात् जो आर्य लोगों के आचरण विरूद्ध हो या उनके आचरण से अनुमोदित न हो और परम्परा को भंग करने वाला हो। आर्य का लक्षण योगवासिष्ठ में बतलाया है –

कर्तव्यमाचरन् कामं अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः।।
यथाशास्त्रं यथाचारं यथाकामं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः।।

अर्थात् आर्य वह है, जो स्वभाव से ही करने योग्य कार्य करता है और न करने योग्य नहीं करता। प्रायः लोग दण्ड भय से अपराध या पाप नहीं करते, परन्तु आर्य के लिये शुद्धाचरण और निषिद्ध का त्याग स्वभावगत होता है और उसके कार्य सदा शास्त्रानुकूल होते हैं। मर्यादा और परम्परा की रक्षा बनी रहती है। यह अवस्था अन्तःकरण की शुद्धि से प्राप्त होती है और शुद्ध अन्तःकरण हो जाने पर उसकी प्रेरणा प्रमाण रूप हो जाती है। कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर मोहित होकर कहता है –

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।।

अर्थात् राजा का शुद्ध मन भी शकुन्तला पर रीझ गया है, तब निश्चय है कि उसका क्षत्रिय से विवाह हो सकता है – वह ऋषि कन्या नहीं हो सकती। क्योंकि सज्जनों के मन में जिस बात पर शंका हो, वहाँ जो कुछ उनका मन कहे, वही ठीक मान लेना चाहिए। अपने अन्तःकरण की गवाही पर ऐसा दृढ़ विश्वास आर्य का लक्षण है। भगवान् श्रीराम ने जब जनक नन्दिनी का प्रथम दर्शन पुष्प वाटिका में किया, तब उनके मन

पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसको और तो और, अपने अनुज से कहने में भी उन्हें संकोच न हुआ – 'सहज पुनीत मोर मनु छोभा।' पवित्र मन स्वयं ही मर्यादा की रक्षा करता है, उसको नियन्त्रण में रखने की चेष्टा अनावश्यक है। तभी तो एक कवि ने कहा है आर्यों की प्रशंसा में – 'जो तेरा नितकर्म था, औरों का वो ही धर्म था।' हमारा सहज स्वभाव से किया कर्म दूसरों के लिये आदर्शरूप था। कारण एक ही था – जीवन का प्रत्येक अंग धर्म से मर्यादित था। साथ ही परम्परा की रक्षा का भी ध्यान रखा जाता था। आर्यों द्वारा आचरण योग्य कर्म में परम्परा लक्षित है, क्योंकि जो परम्परा के विरूद्ध हो, वह कार्य भी निषिद्ध हो सकता है।

श्रीमद्भगवत गीता[2] का शैक्षिक आधार : ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के समन्वय की दृष्टि से शैक्षिक निहितार्थ –

अन्य धर्मों में मोक्ष की कल्पना नहीं है और न जन्मान्तर या कर्मवाद का सिद्धान्त स्पष्टतः बताया गया है। गीता में दोनों कहे गये हैं और आर्य का सबसे महान् आदर्श यही बताया गया है कि आवागमन के चक्र से निकलकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे। यही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है और शास्त्रों की इसी का उपाय बताने में महत्ता है। हिन्दुओं पर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि वे मुक्ति के पीछे पड़े रहते हैं, सांसारिक उन्नति की अवहेलना करते हैं और मन्द वैराग्य की भावना रखने से अकर्मण्य हो जाते हैं। फिर यह भी कहा जाता है कि मुक्ति का आदर्श स्वार्थमूलक है, क्योंकि वह तो व्यक्तिगत कल्याण की बात है। ये सब आक्षेप निराधार हैं। अपनी निर्बलता शास्त्र या धर्म के माथे मढ़ना अनुचित है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तो यहाँ तक मान्य है कि वर्णाश्रम मर्यादा में रखने का वास्तविक उद्देश्य ही यह है कि मनुष्य अन्त में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो जाए। सन्यास आश्रम का अधिकारी होना सब कार्यों के दायित्व से मुक्त हो जाना है। परमोच्च अवस्था प्राप्त मनुष्य उन्मत्तवत्, पिशाचवत्, जडवत् या बालवत् भी व्यवहार करे तो वह महात्मा ही है और हमारे देश में उसका अब भी वैसा आदर होता है। इससे बढ़कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है। सब दिगम्बर इस क्षेत्र में पागल नहीं माने जाते, न उनसे पागलों जैसा बर्ताव किया जाता है। फिर मोक्ष प्राप्ति का साधन वैयक्तिक ही हो सकता है। एक साथ हजारों आदमियों के नमाज पढ़ने जैसा साधन नहीं है। जीवन्मुक्त को स्वार्थी बताना अज्ञान है, क्योंकि ज्ञान की परम्परा उन्हीं से बराबर चलती रहती है। ज्ञान की शिक्षा से बढ़कर लोकोपकार हो नहीं सकता, फिर लोक–संग्रह का आदर्श भी तो गीता ने बताया है। ब्रह्मज्ञान या पराभक्ति उपलब्ध होने पर मनुष्य के लिये कोई विधि–निषेध का बन्धन या किसी कार्य का दायित्व नहीं रहता, परंतु फिर भी एक भावना रहती है कि स्वयं संसार–सागर से पार हो गये तो दूसरों को भी पार उतारने में सहायता करें। यही करूणा परवशता है –

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो, वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना – नहेतुनान्यानपि तारयन्तः।।

(विवेकचूडामणि 39)

मन्द वैराग्य या अकर्मण्यता और संसार से उदासीनता हमारा धर्म नहीं सिखाता। शिक्षा का दोष नहीं – यदि अज्ञानवश उसका दुरूपयोग किया जाए। गीता स्पष्ट कहती है कि एक क्षण भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता – **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (3 / 5)।** प्रश्न यह है कि 'संसार

कुरूक्षेत्र या कर्मक्षेत्र है। इसमें कर्म करने की क्या युक्ति है, जिससे अनिवार्य कर्म करते हुए भी हम उसके बन्धन से बच सकें ?' गीता का उपदेश है कि व्यक्तिगत कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना चाहिये। कुरूक्षेत्र या व्यक्ति के कर्मक्षेत्र का अभिमानी अल्पज्ञ जीव है अर्थात् जीव उसका क्षेत्रज्ञ है। यदि जीव अपने प्रकृत स्वरूप को जान ले तो वह धर्मक्षेत्र का क्षेत्रज्ञ हो जाता है। अर्थात् स्वार्थ की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही संकुचित मनुष्य का कर्मक्षेत्र होगा। और कर्त्तव्य भोक्तृत्व का अभिमान भी बलवान् रहेगा। जैसे–जैसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव तीव्र होगा, क्षेत्र प्रशस्त होता जाएगा। जब यह ज्ञान हो जाएगा कि सर्वव्यापक और विभु एक ही आत्मा है, तब कुरूक्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी एक हो जाऐंगे। नानात्वका अन्त होकर एकत्व में प्रतिष्ठा हो जाएगी। इस आदर्श के सामने आक्षेप निराधार ठहरता है। संसार को जैसा वास्तव में वह है, वैसा देखने में क्या दोष हो सकता है।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् (गीता 9/33) – इन शब्दों में निर्विवाद वस्तुस्थिति का वर्णन कर श्रीभगवान् हमको चिर शान्ति का मार्ग बताते हैं। जिनकी दृष्टि में संसार ही सब कुछ है, उनको भी यह अनुभव तो सतत होता रहता है कि उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती। अकर्मण्यता सिखाना एक बात है और संसार के वास्तविक स्वरूप का सदा ध्यान में रखने की शिक्षा दूसरी बात है। भौतिक उन्नति में गीता कोई बाधा नहीं देती। धर्म की हानि बिना किये उन्नति उपादेय है। संसार प्रवाह का एक किनारा धर्म है और दूसरा मोक्ष है। इन दोनों की मर्यादा सुरक्षित रखकर अर्थ और काम की प्राप्ति का निषेध नहीं है। आधुनिक जगत् में शक्तिवृद्धि की चिन्ता तो सब करते हैं और पाश्चात्य देश तो इसी में रत हैं। शक्ति संचय के साथ धर्म–भाव की वृद्धि न होने से नियन्त्रण नहीं रहता। परिणाम भयंकर होता है। महादेव जी ने असुर को वरदान दे डाला तो वह उन्हीं के सिर पर हाथ रख उन्हीं को भस्म करने के लिए उद्यत हो गया। यही दशा आज विज्ञान–जगत् में प्रत्यक्ष देखने को मिलती है। मनुष्य के आविष्कार उसी के नाशक बन रहे हैं और यहाँ की शिक्षा है कि योगविभूति प्राप्त हो जाए तो उसका भी उपयोग सांसारिक प्रसंगों में करना अनुचित है। दुर्योधन की आसुरी वृत्ति स्वार्थान्ध होकर यहाँ तक बढ़ी कि उसका नाश ही करके शान्त हुई। धर्मभीरू अर्जुन को भगवत्कृपा प्राप्त हुई। मनुष्य में दैवी और आसुरी प्रकृति का सम्मिश्रण है जिसको चाहे, उसे बढ़ाये। अर्जुन का पक्ष भी योद्धाओं ने किया और दुर्योधन के भी सहायक थे। जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा समाज होगा। अतएव व्यक्ति के विकास पर बल दिया जाए तो उचित ही है। आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं सांसारिक उन्नति का परस्पर विरोध गीता ने बड़ी सुन्दरता से दूर किया है। अर्जुन को राज्य, सुख, भोग–प्राप्ति के लिये युद्ध करने की आज्ञा श्रीभगवान् स्वयं देते हैं; परन्तु युद्ध कौशल से करने का उपदेश है अर्थात् भगवान् अपने विधान को यन्त्रवत् पूरा करने की और निर्लिप्त होकर समस्त भोग भोगने की आज्ञा देते हैं –

यत्करोषि यद्श्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।। (गीता 9/27)

यह उदासीनता या झूठे वैराग्य का उपदेश नहीं है। भोग में कैसा भाव रखना, इसी की शिक्षा है। अतएव धर्म की मर्यादा सुरक्षित रखकर संसार के भोग प्राप्त करने में कोई हानि नहीं। वेदव्यास जी तो यहाँ तक रहते हैं कि अर्थ और काम की इच्छा हो तो भी धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि धर्म से ही वे प्राप्त होते हैं –

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

श्रीभगवान् ने अनार्यजुष्टम् कहकर जो आक्षेप अर्जुन के तर्क पर किया, वह बड़ा सारगर्भित है और उसमें हमको अपने सनातन आदर्श की सुन्दर झाँकी मिलती है। आर्य होना ही महान् गौरव है और उसके साथ उत्तरदायित्व भी वैसा भी महान् है। अन्य मनुष्य जातियों से जो उच्चादर्श रखने की आशा नहीं की जा सकती, उसको आर्य चरितार्थ करे यही शिक्षा है।

दूसरा आक्षेप था **अस्वर्ग्यम्**। यदि सुख–भोग की लालसा प्रबल है और सकाम कर्म में प्रवृत्ति बलवती है तो फिर ऐसे कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे चिर काल तक भोग प्राप्त हो सकें। संसार के सुख अनित्य हैं, थोड़े ही भोग के पश्चात् काल का ग्रास बनना पड़ेगा, और संस्कार प्रबल होने से भोगेच्छा नीची योनि में भी ले जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा करना उचित है कि जिसके द्वारा संसार के भोगों से बढ़कर और अधिक स्थायी स्वर्ग के भोग प्राप्त हो सकें। इसके लिए पुण्य करना आवश्यक है। यज्ञ, तप, दान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है; इनसे जीवन पवित्र भी होता है और स्वर्गकामी की भोगेच्छा भी कालान्तर में पूर्ण होती है। परन्तु यह प्रवृत्ति मार्ग निवृत्ति मार्ग की तरह अक्षय शान्ति और आवागमन से मुक्ति नहीं दिला सकता। क्योंकि –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता 8/16)

यहाँ भगवान् ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त और उसके चक्र से निकलने का उपाय भी बता दिया। परन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म लेना ही पड़े तो यह श्रेयस्कर है कि वह अच्छे कुल में हो या स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति हो। अतएव जो निष्काम भाव से कर्म कर संसार से छुटकारा पाने के अधिकारी नहीं हो सकते, उन्हें मोक्ष प्राप्त न हो तो कम–से–कम उनकी अधोगति तो न हो – ऐसा आचरण करना उचित है। अन्य धर्मों में स्वर्ग से बढ़कर या ऊँचा कोई लोक नहीं बताया जाता; परन्तु हमको तो मोक्ष–पद से निम्न श्रेणी के कई लोक बताये जाते हैं। और मोक्ष की चर्चा तो अन्य धर्मों में है ही नहीं। अतएव स्वर्गकामी होना कोई बड़े आदर्श की बात नहीं है। दूसरों के लिये इससे बढ़कर कोई कल्पना नहीं।

इस प्रकार **'अस्वर्ग्यम्'** कहकर श्रीभगवान् ने हमारे आदर्श का एक और दृश्य भी दिखा दिया। परन्तु वह **'अनार्यजुष्टम्'** से निम्न श्रेणी का है। अधिकार भेद से उसे भी कहना पड़ा और इसके साथ कई सिद्धान्तों पर भी संकेत कर दिया।

तीसरा आक्षेप श्रीभगवान् का है – **'अकीर्तिकरम्'**। विश्व से अतीत की बात **'अनार्यजुष्टम्'** से कही और **'अस्वर्ग्यम्'** से परलोक की। **'अकीर्तिकरम्'** से इस जगत् की ओर संकेत है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा – **'यशो लभस्व'**। युद्ध में शत्रुओं को मारकर विजय प्राप्त करो और यशस्वी बनो। यश जीवनकाल में ख्याति से प्राप्त होता है और मरने के बाद वही कीर्ति कहा जाता है। ऐसा भेद गीता ने किया है। स्थायी यश कीर्ति हो जाता है। यश प्राप्त होता है पुरूषार्थ से और लोक–सेवा या लोक–संग्रह से। कठिन कार्य – जो किसी से न हो सके, उसे सफलतापूर्वक करना यशः प्राप्ति का कारण होता है। यदि निष्काम भाव न हो और निवृत्ति मार्ग का अनुसरण न हो सके तो मनुष्य को स्वर्गकामी होना चाहिए और यदि स्वर्ग प्राप्ति के साधन भी उपलब्ध न हों तो कम–से–कम यश तो संसार में जीते तो मिले – ऐसा उद्योग होना चाहिए।

काल से बचने का तो कोई उपाय नहीं। शरीर तो जाएगा ही; परन्तु प्राप्त यश तथा कीर्ति की रक्षा की जा सकती है। जिसकी कीर्ति है, वह एक प्रकार से जीता है – चाहे उसका शरीर न भी रहा हो। यदि यश का भी भागी मनुष्य न बने तो कम–से–कम अपयश से अपने को कलंकित न करे। यशस्वी को स्वर्ग प्राप्ति भी हो सकती है। दुष्कृति से कलंकित के लोक–परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

अकीर्तिकरम् से व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। इन दोनों में बराबर आदान–प्रदान चलता रहता है। आदर्श यह होना चाहिये कि समाज से व्यक्ति को जो लाभ होता है, उससे अधिक सेवा या लाभ व्यक्ति द्वारा समाज को मिलना चाहिये। वैसे वे एक दूसरे के पोषक हैं। दुर्योधन की भावना है कि उसको किसी प्रकार भी निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो, उसके लिए भले ही असंख्य लोगों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े। वह बड़े अभिमान से कहता है – **'मदर्थे त्यक्तजीविता:'**। द्रोणाचार्य और भीष्म भी मर जाएँ तो दुर्योधन को उसकी चिन्ता नहीं। राज्य बना रहे। दुसरी ओर अर्जुन है, जिसका पक्ष न्याय्य है; परन्तु वह कहता है –

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। (गीता 1/45–46)

दोनों व्यक्ति विपरीत भावनाओं के नमूने हैं। देश के नेता ने स्वराज्य दिलाया, महान् कार्य किया। किन्तु इससे भी महत्ता उन्होंने तब दिखायी, जब यह घोषणा कि कि सत्य की बलि देकर स्वराज्य लेना अस्वीकार है। यह हमारे देश का गौरव है।

आजकल व्यक्ति–स्वातन्त्र्य को आदर्श माना जाता है। सब जगह समानता, समानाधिकार की चर्चा सुनायी देती है। गीता इस समस्या पर भी प्रकाश डालती है। समानता का जो पाश्चात्य आदर्श है, वह स्वभाव और प्रकृति दोनों के विरूद्ध है, अतएव अव्यवहार्य है। बलपूर्वक उसको बर्तन से अनर्थ होता है। कोई दो व्यक्ति संसार में एक–से नहीं। भिन्नता और नानात्व प्रकृति का नियम है। जहाँ असमानता है, उसे स्वीकार करना गीता सिखाती है। आँख बंद कर लेने से आकाश का सूर्य कहीं अस्त थोड़े हो जाएगा। गुण और स्वभाव के वैषम्य से भेद प्रत्यक्ष है। हाँ, एकता आत्मा में है। उसी पर लक्ष्य रखने का गीता आदेश देती है। सबमें अन्तर्यामी रूप से एक ही आत्मा है और उसका लक्ष्य रखने वाले पण्डित समदर्शी होते हैं। **'पण्डिताः समदर्शिनः'** शब्द विचारणीय हैं। 'समवर्तिनः' नहीं कहा, **'समदर्शिनः'** कहा है। कुत्ते, चाण्डाल, ब्राह्मणादि के समान व्यवहार करना मूर्खता होगी। उनमें एक आत्मा को देखना पाण्डित्य है, परन्तु संसार में आत समान बर्ताव की दुहाई दी जा रही है। गुण, कर्म, स्वभाव को भूलकर समता का राग अलापना और समान बर्ताव की योजना बनाना अनर्थकारी हो रहा है। हमारी शिक्षा यह है कि एक से अनेक का प्रादुर्भाव हुआ है। इस नानात्व में एककी प्रतिष्ठा कर लेना सब साधनों का ध्येय है।

इसी नानात्व के आधार पर अधिकार का सिद्धान्त अवलम्बित है। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करने से क्या होगा; यदि विश्वास न हुआ तो। धर्म का मूल विश्वास एवं श्रद्धा है, न कि प्राणभय। हिन्दू–धर्म विचारों की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और बुद्धि को श्रद्धा या विश्वास से ऊँचा स्थान देने में संकोच नहीं करता। हमारे

शास्त्रों ने तर्क द्वारा जैसी बाल की खाल निकाली है, वैसी किसी धर्म में सहन भी नहीं की जा सकती। प्रश्न करना, सन्देह मन में लाना ही कुफ्र समझा जाता है। सनातन धर्म में अधिकारानुसार सबको स्थान प्राप्त है और मनुष्य को अपनी बुद्धि दौड़ाने के लिए अनन्त क्षेत्र। यही कारण है कि अन्य धर्मावलम्बियों को शुद्ध कर या बलपूर्वक अपने धर्म में लेने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। हमारा आग्रह आचार पर है, न कि विचार पर। विचार में स्वतन्त्रता और आचार में समानता मान्य है। सनातन धर्म की सहिष्णुता अपनी एक विशेषता है, जो बिल्कुल निराली है। इस प्रकार बुद्धि–स्वातन्त्र्य को जो स्थान यहाँ प्राप्त है, वह अन्य धर्मों में असहनीय है।

अब तक गीता के तीन शब्दों को लेकर – **'अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्'** – सनातन धर्म से अनुप्राणित हमारी संस्कृति के कुछ पहलुओं पर विचार किया गया; परन्तु उपदेश की पूर्ति के लिये विधि और निषेध दोनों का निर्देश आवश्यक होता है। गीता ने विधि को भी मन्त्रवत् तीन ही शब्दों में बताया है और वे हैं – **'ऊँ तत्सत्'**। गीता ने इस वाक्य की बड़े संक्षेप से व्याख्या की है; परन्तु एक प्रकार से कहा जा सकता है कि अनिवार्य रूप से कर्मबन्धन में पड़े हुए मनुष्य को कल्याण का जो मार्ग गीता ने विस्तार से बताया है, उसी को अतिसूक्ष्म भाव से **'ऊँ तत्सत्'** द्वारा सूत्र रूप में दे दिया है। 17वें अध्याय का 23वें से लेकर 27वें श्लोक तक का अंश द्रष्टव्य है। जैसे निषेधात्मक तीन वाक्यों की व्याख्या की गयी, वैसे ही **'ऊँ तत्सत्'** की भी करना उचित है; परन्तु लेख के विस्तारमय से ऐसा नहीं किया जाता। ये त्रिविध परमात्मा के नाम हैं, जिनकी भावना सदा बनाए रखने में प्रत्येक कर्म का रूप यज्ञ, दान और तप हो जाता है। ऊँ वाचक है ब्रह्म और ईश्वर दोनों का, अर्थात् पर और अपर ब्रह्म का। सब प्रेरणाएँ उसी से होता हैं – **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'**। अतएव ऊँ के उच्चारण के साथ कर्त्तव्याभिमान नष्ट हो जाना चाहिये। हम यन्त्र हैं, हृदयस्थ प्रभु यन्त्री हैं। तत् के उच्चारण से फलाभिसन्धि के त्याग की भावना दृढ़ होती है और सत् के कर्मासक्ति का त्याग होता है। **'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'**। इस भूल से मनुष्य बच जाता है। और कर्म करते हुए फलकी इच्छा न रखने से कर्म का बन्धन नहीं होता। संसार में रहते हुए इस विधि के अनुसार कर्म करते हुए भी कल्याण प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार विधि–निषेध सूत्र रूप से गीता ने बताये हैं और इनके अनुसार जीवन का गठन करना आर्य–आदर्श है।

एक बात प्रायः बड़े दावे से कही जाती है कि संसार में कोई भी संस्कृति अपने असली और शुद्ध रूप में कहीं नहीं मिलती है। परस्पर संघात और सम्मिश्रण से उसकी प्रगति होती रहती है। और इस प्रकार अनेक विचाराधाराओं के संगम से देश या जाति का आदर्श क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उससे बड़ा लाभ होता है। अतएव संस्कृति पर बाह्य प्रभाव को दोष न मानना चाहिये। उसका स्वागत करना उचित है। हमारे सिद्धान्त इस बात को नहीं मानता। हमारी संस्कृति के आदर्श इतने महान् हैं और उसका प्रत्येक अंग ऐसी उदात्त भावनाओं पर स्थित है कि उनको अधिक उन्नत नहीं बनाया जा सकता। वे ऐसी मौलिक हैं कि मनुष्य की कल्पनाशक्ति भी उनको उच्चत्तर बनानें में असमर्थ है। सुधार अपना करना है, न कि धर्मप्राण परम आदर्शरूप संस्कृति का। औरों की संस्कृति में न्यूवता है; क्योंकि वह अपूर्ण है और किसी अंग विशेष को ही महत्त्व देती है। रही परस्पर संघात और आदान–प्रदान की बात; उसमें प्रथम तो यही निश्चय करना कठिन होता है कि औरों से क्या लेना है और क्या त्याज्य है। फिर लेना तो वही चाहिये, जो हमारे पास न हो।

अग्नि में कोई वस्तु डालने से या तो वह प्रज्वलित होकर अग्निरूप हो जाती है या अग्नि को बुझा देती है। हमें संकर–संस्कृति नहीं चाहिये। वह अंजन किस काम का, जिससे आँख ही फूट जाए। अपना स्वभाव और स्वरूप खो देने से न हमारा उपकार होगा न संसार की सेवा।

आदर्शों की महत्ता में और संस्कृति की श्रेष्ठता में संसार की कोई भी जाति आर्य जाति से तुलना करने योग्य नहीं है। रत्नगर्भा भारतभूमि ने अगणित महापुरूषों को जन्म दिया है और उन्होंने आदर्शों को पूर्णरूपेण चरितार्थ कर दिखाया है। उनके समान महात्मा अन्य देशों में इने–गिने भी नहीं हुए। यहाँ ऋषि मुनियों ने जन्म ही नहीं लिया, उनके उत्पन्न करने की विधि भी बतायी गयी है। मनुष्य को देव–दुर्लभ स्थिति प्राप्त करने की सफल युक्ति बतायी गयी है और वह उपाय भी कहा गया है, जिससे साक्षात् ईश्वर को मानव स्तर पर अवतार रूप से प्रकट किया जा सकता है। इसीलिये वेदों ने आर्य लोगों को **'अमृतस्य पुत्राः'** कहा है।

योग शिक्षा[3] की दृष्टि से श्रीमद्भगवत गीता की प्रासंगिकता –

प्राचीन भारतीय शिक्षण प्रणाली ऋषि मुनियों के आश्रमों के द्वारा दी जाती थी। सांदिपनी आश्रम कृष्ण–सुदामा का इतिहास भारतीय गुरू शिष्य प्रणाली एवं गृहस्थी जीवन त्याग करके एकांत में विद्याभ्यास करने की प्रथा का द्योतक है। उसमें वेद, उपनिषद्, राजकीय, सामाजिक दर्शन, गणित, विज्ञान और सांप्रत कालीन विद्याओं के साथ संख्या योग का भी अध्ययन किया जाता था। इस शिक्षण प्रथा से प्राप्त की हुई विद्या से विद्यार्थी संपूर्ण ज्ञानी, व्यवहार कुशल और श्रेष्ठ गृहस्थी बनने की क्षमता प्राप्त करता था और संसार के सभी क्षेत्रों में वह सफल रहता था।

विद्याभ्यास के समय दरम्यान विद्यार्थी संस्कारित होकर एक श्रेष्ठ और निपुण नागरिक बनता है इसलिए विद्याभ्यास का पाठ्यक्रम व्यवहार एवं संपूर्ण ज्ञान से भरा होना अति आवश्यक है। प्राचीन भारत की शिक्षण प्रथा विश्व में प्रशंसनीय मानी जाती थी। तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्व श्रेष्ठ विश्वविद्यालय भारत में स्थित थे। इन विश्वविद्यालयों में विदेशों में से श्रेष्ठ विद्या संपादन करने के लिये आते थे। अंग्रेज के आगमन के बाद जो शिक्षण प्रथा भारत में आयी वह तत्कालीन राजकीय शासकों को उपयोगिता लक्ष्य में रखकर बनायी गयी थी। वह नौकरशाही के लिये ज्यादा उपयोगी थी।

अंग्रेज कालीन शिक्षण प्रथा का प्रभाव वर्तमान काल में भी दिखाई देता है। वर्तमान शिक्षण प्रथा में ज्ञान का संग्रह होता है। ज्ञान की उपर्युक्तता कम होती है। विद्यार्थी को विद्याभ्यास भाररूप बना जा रहा है। तारणरूप कम होता जा रहा है। सांप्रत शिक्षण प्रथा ज्ञान वृद्धि करती है लेकिन मानसिक एवं शारीरिक कौशल्य कम प्राप्त कराती है। इससे विद्यार्थी समग्र क्षेत्र में निपुणता प्राप्त नहीं कर सकता।

विद्याभ्यास में निपुणता–प्रविण्य प्राप्त करने में योग्य पर्यावरण और श्रेष्ठ मार्गदर्शन के साथ–साथ शरीर के स्वास्थ्य और मन का सात्विक होना अति आवश्यक है। तंदुरस्त शरीर के अन्दर ही सुन्दर विचारों का निर्माण होता है और सुन्दर विचारों से बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ प्रभावित होने से श्रेष्ठ कौशल्य प्राप्त होता है। मन और शरीर की शक्तियों को उजागर करने के लिए भारतीय प्राचीन योगायुर्वेद विज्ञान का वर्तमान शिक्षण पाठ्यक्रम में समाविष्ट करना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से यह शोधकार्य करने की प्रेरणा प्राप्त की गई है। ताकी सांप्रत समाज में विद्याभ्यास के बाद विद्यार्थी हर क्षेत्र में साफल्य प्राप्त कर सके।

सांख्य योग का निरूपण करते हुए भारतीय शास्त्रकारों ने लिखा है कि अव्यक्त स्वरूप से प्रकृति, प्रकृति से सत्व, रज और तम, गुण, शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध, तन्मात्रा और तन्मात्रा से पंचमहाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और ग्याराहवां मन (उभयेन्द्रिय) की उत्पत्ति हुई है, और इन्द्रिय के साथ बुद्धि और आत्मा का संयोग होने से ये भौतिक जीवित – शरीर की उत्पत्ति होती है। यह सांख्यो का मत है। गीता की आध्यात्मिक विचारधारा इन सिद्धान्तों पर अवलंबित है।

विद्याभ्यास – शिक्षा प्राप्ति में कौशल्य प्राप्त करने के लिए 10 इन्द्रियाँ, बुद्धि (प्रज्ञा) और मन की शुद्धता होनी जरूरी है, अगर मन क्षुब्ध हो तो इन्द्रियाँ अपने विषयों का ठीक तरह से ग्रहण नहीं कर सकती और बुद्धि की घी, घृति और स्मृति की शक्तियों में बाधा आती है। इससे ज्ञान प्राप्ति में अवरोध होता है। प्रकृतिस्थ श्रेष्ठ बुद्धिक्षमता होते हुए भी विद्यार्थी ज्ञान प्राप्ति में पीछे रह जाता है और तेजस्वी विद्यार्थी भी योग्य परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि योग्य विद्या संपादन में विद्यार्थी का मन, बुद्धि और शरीर संपूर्ण कार्यक्षम होना अनिवार्य है।

अगर विद्यार्थी को योग एवं आयुर्वेद भारतीय प्राचीन विज्ञान पद्धतियों का उत्कृष्ठ ज्ञान प्राप्ति क्षमता प्राप्त करने के लिए विद्याभ्यास में समाविष्ट किया जाए तो विद्यार्थी शिक्षण के द्वारा सम्पूर्ण कौशल्य प्राप्त कर सकते हैं।

योग के द्वारा मन की एकाग्रता और स्थिरीकरण प्राप्त किया जाता है जो ज्ञान प्राप्ति में अति आवश्यक है। योग के द्वारा मन की वृत्ति का निरोध होता है। स्थिर मन ज्ञानेन्द्रियों के अपना विषय ग्रहण करने की क्षमता को बढ़ाता है और बुद्धि ज्ञान को आत्मसात् करती है। अष्टांगयोग का वर्णन भारतीय शास्त्रों में मिलता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग से संपूर्ण योग पद्धति बनाई गई है। जो विद्यार्थियों के लिए विद्या संपादन में अति आवश्यक है। मनकी पाँच अवस्था – क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध है – इन में से चतुर्थ एकाग्र अवस्था विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है। बुद्धि की कुशाग्रता प्राप्त करने के लिए और श्रवण, वक्तव्य, भाषण, मनन, चिंतन आदि प्रक्रिया को उत्कृष्ट बनाने के लिए मन का एकाग्र होना जरूरी है – वह योग के द्वारा प्राप्त होता है। यम–नियम, शिस्त प्रदान करता है। आसन, प्राणायाम, जीवनीय शक्ति को बढ़ाता है, धारणा और ध्यान से प्राप्त किये ज्ञान का स्थिरीकरण होता है जो विद्या संपादन में अतिआवश्यक है। मन और बुद्धि की क्षमता की वृद्धि के साथ – योगासन से इन्द्रियाँ निर्मल और सतेज होती है जो अपने विषयों को तेजी से तीव्रता से ग्रहण कर सकती है। अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियों की क्षमता बढ़ने से ज्ञान–विद्या प्राप्ति में सफलता मिलती है।

बुद्धि की तीन शक्तियाँ हैं – घी, घृति और स्मृति।

घी शक्ति से योग्यायोग्य, हित–अहितकर, तत्वों का ज्ञान प्राप्त होता है ये करना, ये नहीं करना, ये अच्छा है, ये बुरा है इन बाबतों की विवेचनात्मक शक्ति – बुद्धि की घी शक्ति से प्राप्त होती है। घृति शक्ति से जो ज्ञान प्राप्त किया उसका संग्रह होता है – यह धारणा को बढ़ाते हैं और तीसरी शक्ति स्मृति है इससे संग्रह किया हुआ ज्ञान स्मृति पट में आता है और उसकी उपयोगिता प्राप्त होती है। बुद्धि की इन तीन शक्तियों को उजागर करने के लिए – विद्यार्थियों को योग्य शिक्षण प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम में योगाभ्यास का समाविष्ट करना नितांत जरूरी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली[4] में मूल्य शिक्षा के समावेश की दृष्टि से प्रासंगिकता –

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद् द्वारा निर्धारित तिरासी (83) मूल्यों को निम्नांकित छः समूहों में वर्गीकृत किया गया है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा निर्धारित इन मूल्यों को मूल्य परक शिक्षा में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए –

1) **साधुता या न्यायप्रियता** – स्वच्छता, सत्यनिष्ठा, समाज कल्याण, सहयोग, साहस, अनुशासन, धैर्य, नित्रत, स्वामी भक्ति, शिष्टाचार, न्याय, आज्ञापालन, समय का सदुपयोग, पवित्रता, ज्ञान पिपासा, सादा जीवन, स्व सहायता, स्वाध्याय, आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, सहानुभूति, सत्य और सत्य तथा अच्छाई एवं बुराई में भेद करने की भावना, सहिष्णुता तथा सच्चाई आदि मूल्य साधुता या न्यायप्रियता के अन्तर्गत आते हैं।

2) **स्वानुशासन** – स्वानुशासन में आत्मनियन्त्रण, समयबद्धता, नियमितता, ईमानदारी, भक्ति या निष्ठा, सत्यनिष्ठा, पहलकदमी, शुभचिन्ता, साधन सम्पन्नता, जिज्ञासा, खोज प्रवृत्ति तथा भावी दृष्टिकोण आदि मूल्य सम्मिलित हैं।

3) **मित्रभाव** – सहायता, दूसरों को सम्मान एवं आदर, टीम भावना से कार्य, टीम भावना तथा दूसरों का हित चिन्तन आदि मित्रभाव सम्बन्धी मूल्य हैं।

4) **मानवतावाद** – व्यक्ति की गरिमा, शारीरिक श्रम को आदर, सौजन्यता, समाज सेवा, मानवता की सुदृढ़ता, सामाजिक दायित्व की भावना, खोज प्रवृत्ति तथा सम भावना आदि मानवता के मूल्य हैं।

5) **लोकतन्त्रीय भावना** – लोकतन्त्रीय भावना के मूल्य हैं – नागरिकता, समानता, स्वतन्त्रता, नेतृत्व, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय सजगता, देशभक्ति, सामाजिक न्याय, समाजवाद, राष्ट्रीय तथा नागरिक सम्पत्ति का महत्त्व और लोकतान्त्रिक निर्णय आदि।

6) **अहिंसा** – सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा, छुआछूत की समाप्ति, जीवों पर दया, धर्मनिरपेक्षता तथा समस्त धर्मों का सम्मान, सार्वभौमिक मूल्यों में निष्ठा, सत्य, प्रेम आदि अहिंसा सम्बन्धी मूल्य हैं।

मूल्य शिक्षा[5] की आवश्यकता –

भारत अपनी कला, संस्कृति तथा दर्शन आदि की गौरवशाली परम्पराओं पर सदैव गर्व करता रहा है परन्तु आज अनास्था तथा पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में हमारी प्राचीन परम्परागत एवं मूल्य धूमिल हो गये हैं। आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा, अस्तित्ववादी जीवन, अनात्मपरक नास्तिकता, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण तथा कुतर्क प्रधान चिन्तन आदि के कारण अतीत में अविश्वास एवं स्व में अनास्था आदि कारणों से हमारे पुराने मूल्य प्रदूषित हो गये हैं। स्वयं पर अनास्था का परिणाम है, – आत्मनाश अर्थात् अपने आदर्शों एवं मूल्यों, अपनी सांस्कृतिक विरासत, अपनी चिन्तन प्रणाली का परित्याग कर उसके स्थान पर बाहरी या विदेशी चिन्तन प्रणाली को सम्मिलित करना। इसके फलस्वरूप हमारे मूल्य दब से गये हैं। वस्तुतः वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुए हैं वरन् विघटित हो गये हैं। मानव नारी का सम्मान करना चाहता है परन्तु कर नहीं पाता। झूठ, चोरी, डकैती आदि को गलत मानता है परन्तु मन में उतार नहीं पाता। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करता है परन्तु भ्रष्टाचार का उन्मूलन नहीं कर पाता। इस प्रकार आज का

प्रत्येक भारतीय संक्रान्ति काल से होकर गुजर रहा है। दूसरे शब्दों में, कभी वह पुरातन मूल्यों की ओर झुकता है तो कभी आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा की ओर जाता है फिर रूककर आत्म चिन्तन करता है।

उक्त वातावरण ने मूल्य शिक्षा की आवश्यकता की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। हमने संक्रमण काल में कर्त्तव्य या कार्य संस्कृति के स्थान पर उपभोक्ता संस्कृति को अपना लिया है। इस उपभोक्ता संस्कृति ने मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता को और भी प्रबल बना दिया है।

संदर्भ

1) एल्तेकर ए. एस. — ऐजूकेशन इन एनसियंट इण्डिया, 1965, पृ. 71—85

2) एम.पी. श्रीवास्तव तथा डॉ. विरेन्द्र कुमार वर्मा : प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन — एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, 1972, पृ. 273—282

3) वही, उपरोक्त, पृ. 296—302

4) ऋषिराज तिवारी, वर्तमान शिक्षा विकल्पों की तलाश, चिराग प्रकाशन, 2015, पृ. 40—62 एवं 160—179

5) वही, उपरोक्त, पृ. 130—152, उद्धृत, जोशी धर्मिणी बेन किरीट कुमार, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, 2018, पेसिफिक विश्वविद्यालय, उदयपुर, पृ. 97—112

6) उद्धृत, जोशी धर्मिणी बेन किरीट कुमार, बदलते परिदृश्य में श्रीमद्भगवत गीता के दार्शनिक, शैक्षिक एवं सार्वभौमिक मूल्यों की प्रासंगिकता — एक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, 2018, पेसिफिक विश्वविद्यालय, उदयपुर, पृ. 97—112